

शिक्षा का लक्ष्य !

□ विश्वंभर

शिक्षा पर आजकल बहुत बहस हो रही है। यह बहस शिक्षा की पहुंच से लेकर शिक्षा के लक्ष्यों और बदलते समाज के संदर्भ में शिक्षा, शिक्षा की भूमिका एवं प्रासंगिकता को परिभाषित करने से संबंधित है। शिक्षा में एक वर्ग है जो शिक्षा को आलोचनात्मक विवेक, समता एवं न्यायोचित स्थितियों के विकास का जरिया मानता है। शिक्षा में गुणवत्ता के सवाल भी स्थापित व्यवस्था की असफलता से उपजे हैं। पिछले डेढ़-दो दशकों से सभी को शिक्षा मुहैया कराना सरकारी और गैर सरकारी शिक्षा संस्थानों का प्रमुख एजेण्डा नजर आता है। इस दिशा में शिक्षा की सभी तक पहुंच के लिए महत्वपूर्ण कार्य भी हुए हैं। हर ऐसी आबादी में स्कूल खोलने के लिए सरकार प्रतिबद्ध नजर आ रही है जहां स्कूल की उपलब्धता नहीं है और यहां तक कि जहां स्कूल जाने वाले बीस-तीस बच्चे हों। इस एजेण्डा के लिए सरकारी अनुदानों से लेकर निजी व्यावसायिक प्रतिष्ठानों एवं अन्तर्राष्ट्रीय अनुदान तथा ऋण तक मुहैया कराए जा रहे हैं। सवाल ये है कि इस प्रतिबद्धता के कारण क्या हैं ? क्यों सभी तक शिक्षा पहुंचाने के लिए इतनी मशक्कत की जा रही है ? क्या वास्तव में इसके पीछे सभी को विकसित होने के समुचित अवसर उपलब्ध कराना है ? क्या ये प्रयास लोकतांत्रिक राष्ट्र में सभी की सहभागिता एवं क्रियाशील उत्पादक क्षमताओं को आवश्यक स्थान देने के लिए हैं ? यदि यही मंतव्य है तो हमारे लिए इससे अधिक खुशी की बात कोई और नहीं हो सकती। लेकिन वर्तमान शिक्षा प्रणाली के सामान्य अवलोकन इस खुशी का अवसर नहीं देते। हमारा सामान्य अवलोकन बताता है कि शिक्षा व्यवस्था में इस समूची प्रतिबद्धता के बाद भी दो समानान्तर धाराएं समान रूप से चल रही हैं। एक तरफ शहर और शहरों से महानगर बनते शहरों का वह नजारा है जहां अत्याधुनिक सुविधाओं से सुसज्जित स्कूल हैं तो दूसरी तरफ अपनी न्यूनतम सुविधाओं के लिए तरसते सरकारी विद्यालय हैं जिनका अस्तित्व कायम रह पाना मुश्किल होता जा रहा है। और जो शिक्षकों की कमी एवं अन्य संसाधनों के अभाव से जूझते रहते हैं।

सरकारी स्कूलों की खस्ता हालत का फायदा निजी विद्यालयों को मिल रहा है। इन विद्यालयों की भी एक रेंज है जो गांव/कस्बों से शुरू होती है और शहरी संस्कृति में चमचमाते भव्य व्यावसायिक प्रतिष्ठानों जैसी छवि में परिपूर्ण होती है। लेकिन सरकारी विद्यालयों का नजारा एक जैसा ही दिखाई देता है। एक वास्तुशास्त्री मित्र ने एक बार कहा था कि यदि इन स्कूलों से ब्लैक बोर्ड्स हटा दिए जाएं तो ये कहना मुश्किल होगा कि ये गौशाला हैं, घुड़साल हैं या फिर स्कूल। ये कथन निश्चित ही शाला के भौतिक स्वरूप के बारे में है लेकिन शालाओं की संस्कृति भी इससे भिन्न दिखाई नहीं देती। सरकारी प्रतिबद्धता के बावजूद भी ऐसा क्यों है ? चाहते न चाहते ऐसा लगता है कि यह परिदृश्य हमें एक नियति की तरफ ठेल रहा है। यह नियति निजीकरण और बाजार के लिए खुले छोड़ दिए जाने की है। राज्य सार्वजनिक व्यवस्थाओं से हाथ खींच रहा है या उन्हें उनके ही हाल पर जीवित रहने के लिए छोड़ रहा है। सरकार अन्यान्य क्षेत्रों की तरह धीरे-धीरे शिक्षा के निजीकरण एवं निजीकरण को वैध ठहराने के प्रयासों में जुटी है। लेकिन निजीकरण की दौड़ में सरकार इस बात को भूलती जा रही है कि शिक्षा अभी भी सभी के लिए वैसी जरूरत नहीं बनी है कि इसे पैसा देकर हर कोई खरीदना चाहे या खरीदने की स्थिति में हो। सवाल यह भी है कि यदि निजीकरण और बाजार ही नियति हैं तो फिर सरकार की भूमिका क्या होगी ? क्या सरकार को अपने संवैधानिक दायित्वों से मुकर जाना चाहिए ?

बुद्धिजीवी इस व्यवस्था से परेशान हैं और अपनी-अपनी तरफ से इसे चुनौती भी दे रहे हैं। लेकिन मूर्त रूप में कुछ पकड़ में नहीं आता दिखाई दे रहा, बल्कि समस्या और गहराती नजर आती है। शिक्षा के बारे में आमतौर पर कहा जाता है कि इसके माध्यम से भावी पीढ़ी का निर्माण होगा। लेकिन इस परिदृश्य में भावी पीढ़ी कैसी होगी ? निश्चित

ही एक शासक होगी और एक शासित। राज्य का भी यही एजेण्डा नजर आता है कि शासित वर्ग को ऐसे कायम रखा जाए कि वे शासन को चुनौती न दे सकें। इसीलिए गरीब बच्चों की 'गरीब शिक्षा' के इंतजामों में सरकार तमाम परियोजनाओं के माध्यम से व्यस्त दिखाई देती है।

अंग्रेजी शासन को हजार गालियां दी जाती हैं और वे सही भी हैं कि, उन्होंने गुलाम मानसिकता पैदा करने के लिए इस तंत्र को रचने की कोशिश की। लेकिन स्वतंत्र राष्ट्र में और आजादी के लगभग 60 वर्ष बाद भी समाज में समतापूर्ण एवं न्यायोचित व्यवस्था को कायम करने में शिक्षा भूमिका अदा कर पा रही है ? हालांकि यह हम जानते हैं कि शिक्षा व्यवस्था अपने आप में समाज से कटकर अलग-थलग चलने वाली प्रक्रिया नहीं है और अन्य व्यवस्थाओं में परिवर्तन के बगैर शिक्षा के माध्यम से परिवर्तनों की बात करना खामाख्याली ही होगी। व्यापक व्यवस्थागत सुधारों के लिए राजनैतिक संकल्प की आवश्यकता को भी नकारा नहीं जा सकता। ऊपरी तौर पर देखने से यह लग भी सकता है कि सरकार तो कितने ही प्रयास कर रही है। लेकिन बिना नए विश्लेषणों के यह बात पुष्ट होती है कि सरकार का एजेण्डा यही है कि कैसे यथास्थिति को कायम रखा जाए और 'सभ्य समाज' के सुकून से रहने की स्थितियों को बरकरार रखा जाए ताकि उसकी स्थिति को कोई चुनौती भी न दे सके।

हमारे संप्रभु राष्ट्र की सरकारों के बारे में यह बात किसी को अटपटी लग सकती है लेकिन सच भी है। हाल ही एक समारोह में शिक्षा सचिव एवं माननीय शिक्षा मंत्री के वक्तव्यों से यही जाहिर होता है और किसी भी प्रकार के भ्रम की गुंजाइश यहां नहीं बचती। समारोह में कहा गया कि, "यदि गरीब और वंचित वर्ग के बच्चों की शिक्षा के इंतजाम नहीं किए गए तो ये बच्चे ड्रग्स लेने, चोरी करने या वेश्यावृत्ति जैसे धंधों में फंस जाएंगे।" साथ ही कहा गया कि, "जैसे एक मोटा टायर सड़क पर चलता है और एक छोटी सी कील उसकी हवा निकाल देती है, उसी प्रकार ये बच्चे हो सकते हैं। तो हवा निकालने वालों की जगह ये बच्चे कम से कम हवा भरने वाले तो बन जाएं।" हां, यही वक्तव्य था। ये वक्तव्य हमारे सामने राज्य की प्राथमिकताओं एवं प्रतिबद्धताओं को स्पष्ट कर देते हैं। सार्वजनिक शिक्षा के पीछे राज्य की मंशा को भी जाहिर कर देते हैं। साथ ही राज्य की अपराधशास्त्र की सतही समझ को भी हमारे सामने रखते हैं। वहां सवाल पूछना मुमकिन नहीं था लेकिन कई सवाल मन में उठे कि मनु शर्मा, हर्षद मेहता, चार्ल्स शोभराज, ओसामा बिन लादेन, शहाबुद्दीन, राहुल महाजन कितने लोग हैं जो गरीब और वंचित वर्ग से आए हैं ? क्या हमारी संसद में उठा ये सवाल बेमानी है कि राजनीति और अपराध का संबंध गहरा है ? क्या ये लोग भी इन्हीं बस्तियों से आ रहे हैं ?

सरकार और शिक्षा के संबंध का यह नया विश्लेषण नहीं है। टॉल्सटॉय ने कहा था कि 'सरकार कभी भी सार्वजनिक शिक्षा को बेहतर रूप में स्थापित नहीं कर सकती क्योंकि उसके काम करने की रीति नीति ही ऐसी है'। सरकार अपनी जिम्मेवारी यही समझती है कि कैसे यथास्थिति को कायम रखा जाए और कैसे 'हवा निकालने वालों' की जगह 'हवा भरने वाले' बनाए जाएं। शासन नहीं चाहता कि कोई उससे सवाल पूछे। राज्य द्वारा प्रदत्त नागरिक की अवधारणा में भी यही निहित है कि राज्य द्वारा बनाए नियम कायदों का लोग पालन करते रहें और 'शांति' एवं 'व्यवस्था' कायम रह सके। राज्य के लिए शिक्षा का लक्ष्य भी यही है।

राजकीय व्यवस्था पर सवाल पहले भी उठते रहे हैं लेकिन अब राज्य भी मान चुका है कि स्थितियों में सुधार उसके वश में नहीं है। इसी समारोह में कहा गया कि, "ये काम सरकार नहीं कर सकती। ये काम स्वयंसेवी संगठन ही कर सकते हैं कि वे ऐसी बस्तियों में घर-घर जाकर बच्चों के माता-पिता को समझाएं कि वे बच्चों को पढ़ाएं।" सरकार की असफलता का यह मंचीय उद्घोष है। स्वयं सेवी संगठन साधुवाद एवं प्रशंसा के पात्र हो सकते हैं कि उनकी क्षमताओं पर अब सरकार को भरोसा होने लगा है ! लेकिन यह चुनौती भी है कि वे कैसे अपने कार्यक्रमों को इन घोषित सरकारी एजेण्डों से बचाएं और समाज में सभी के लिए समतापूर्ण स्थितियों के निर्माण की इस मुहिम को आगे ले जाएं ? कहीं यह स्वयं सेवी संगठनों को व्यवस्था में समा लेने के लिए मीठी गोली तो नहीं ? क्या स्वयं सेवी संगठन बिना राजनैतिक संकल्प के व्यवस्थाओं में सुधार कर पाएंगे ? ♦